वेदका अध्ययन

(गोलोकवासी महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़)

संसारमें सभी जीव यह अभिलाषा करते हैं कि मुझे सुख सदा प्राप्त हो और दुःख कभी न प्राप्त हो। सुख और दुःख दोनों ही जन्य हैं। अखण्ड ब्रह्मानन्दरूप नित्य-सुखके अतिरिक्त वृत्तिरूप सुख-दुःख सभी जन्य हैं, यह वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं। वृत्तिरूप सुख जब जन्म है, तब उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य मानना होगा; क्योंकि संसारमें जितने जन्य पदार्थ हैं, वे किसी-न-किसी कारणकी अपेक्षा अवश्य रखते हैं। कहा भी गया है—'**कारणं विना कार्यस्य उत्पत्तिर्भवत्येव नहि**'। इसलिये प्रस्तुत सुख और दुःख-निवृत्तिरूप कार्योंका भी कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें वह कारण कौन है? यों उसके अन्वेषणमें बुद्धि प्रवृत्त होती है। कारण, गवेषणामें प्रवृत्त पुरुषको यह निश्चय होता है कि विविध विचित्रताओंसे युक्त केवल इस चराचर जगत्का ही नहीं, अपितु तद्गत वैचित्र्यका भी कोई-न-कोई कारण होना चाहिये।

पहले वह लौकिक प्रमाणोंद्वारा उक्त कारणको परखना चाहता है, किंतु प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि लौकिक प्रमाणोंमें उसे बहुधा व्यभिचार दीख पड़ता है और उनकी ओर प्रवृत्तिमें विफलता ही उसके हाथ लगती है। इस प्रकार लौकिक प्रमाणोंमें विफलयत्न होकर वह पुरुष बुद्धिके अगोचर किसी अलौकिक प्रमाणके अन्वेषणमें प्रवृत्त होता है। अन्वेषण करते-करते उसे अलौकिक अर्थकी प्रत्यायक कोई शब्दराशि, जो पुरुषबुद्धिसे अछूती और सकल पुरुषार्थोंकी अवभासक है, प्राप्त होती है। उसे पाकर उसके मनको शान्ति मिलती है एवं आशान्वित और शान्तचित्त हो उसके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे वह विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है। उसके अनुष्ठानसे उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है एवं फल-प्राप्तिसे पूर्ण संतोष होता है।

अलौकिक अर्थका प्रत्यायक जो शब्दराशिरूप प्रमाण उसे प्राप्त हुआ वही 'वेद' कहा जाता है। उससे प्रतिपाद्य जो अर्थ है वही 'धर्म' कहलाता है। वह सब पुरुषार्थोंका मूलभूत प्रथम पुरुषार्थ है। धर्मसे ही अन्य तीन पुरुषार्थ (अर्थ, काम और मोक्ष) प्राप्त होते हैं। वही सारी कल्याणपरम्पराका सम्पादक तथा दुःखका निवर्तक है। उसीमें सब लोक प्रतिष्ठित हैं अर्थात् सब लोकोंका वही आधार है।

कहा भी है—'**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, धर्मेण पापमपनुदति**' जो वेदातिरिक्त प्रमाणोंसे अधिगम्य नहीं हैं, उन्हीं विविध प्रकारके धर्मोंका प्राणियोंके अनुग्रहार्थ अवबोधन करानेके लिये वेद प्रवृत्त हैं। इसीलिये वे 'वेद' कहलाते हैं। आर्योंने वेदके लक्षणका यों उपदेश दिया है—

'**प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।**
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥'

अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे जिस सुख तथा दुःख-निवृत्तिके उपायका परिज्ञान नहीं हो सकता, उसे लोग वेदसे जानते हैं, इसीलिये वेद 'वेद' कहलाते हैं।

हमारे प्राचीनतम महर्षियों तथा मनु आदि स्मृतिकारोंने, जो सर्वज्ञकल्प थे, पूर्वोक्त अलौकिक श्रेयके साधन धर्मको अन्य प्रमाणोंसे जाननेकी इच्छा की। उसके लिये उन्होंने बहुत क्लेश सहे, किंतु उसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्तमें उन्होंने धर्मके विषयमें भगवान् वेदकी ही शरण ली। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'**वेदो धर्ममूलम्**' (गौ० ध० सू०), '**उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्**' (बौ० ध० सू०), '**श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः**' (वा० ध०) '**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**'

(मनु०) और एक स्वरसे सभीने वेदको प्रथम धर्ममूल बतलाया, तदुपरान्त वेदका अनुगमन करनेवाली स्मृतियोंको भी वेदानुसरणसे ही धर्ममें प्रमाण बतलाया एवं श्रुति-स्मृतिप्रोक्त शिष्टाचारको भी उन्होंने धर्ममें प्रमाण माना।

इस प्रकार स्मृति और शिष्टाचारका धर्मके विषयमें जो प्रामाण्य कहा गया है, वह वेदके अविरोधसे ही है। यदि किसी अंशमें भी उनका वेदसे विरोध प्रतीत होता तो उनमें ग्राह्यता ही नहीं रहती।

इसी अभिप्रायसे महर्षियोंने कहा—'**धर्मज्ञसमयः प्रमाणं तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्**' (वा० ध०)—अर्थात् धर्मवेत्ताका आचार प्रमाण है, उसके प्राप्त न होनेपर शिष्टाचार प्रमाण है। धर्मका स्वरूप न तो प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणोंद्वारा ग्राह्य है और न वह कोई मूर्ति ही रखता है। इसीलिये मीमांसकोंने भी '**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**' (जै० सू० १।१।२), '**श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते**' इत्यादि घोषणा की है। यद्यपि याग, दान, होम आदि कर्मोंको ही धर्म बतला रहे और कर्मको प्रत्यक्षका विषय मान रहे भाट्टोंके मतमें धर्ममें भी प्रत्यक्ष विषयता प्राप्त होती है, तथापि वे धर्मको कर्मरूप नहीं कहते, बल्कि अलौकिक श्रेयका साधन कहते हैं। धर्मका वह स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंद्वारा वेद्य नहीं है, किंतु एकमात्र वेदसे ज्ञेय है। तदनुसारिणी स्मृतियोंसे भी वह ज्ञातव्य है एवं श्रुति और स्मृतियोंके अनुशीलनरूप एक संस्कारसे परिपक्व शिष्टबुद्धिसे भी अभिगम्य है। इनके अतिरिक्त धर्मस्वरूपका परिचायक और कुछ नहीं है।

इसी अभिप्रायका अनुसरण कर रहे भगवान् महर्षि आपस्तम्बने भी कहा है—'**न धर्माधर्मौ चरत 'आवं स्व' इति, न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति॥ यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः॥**' (आपस्तम्ब धर्मसूत्र ७।६-७) अर्थात् धर्म और अधर्म हम हैं, हमारा आचरण करो ऐसा नहीं कहते। न देवता कहते हैं, न गन्धर्व ही कहते हैं और न पितर ही कहते हैं कि यह धर्म है तथा यह अधर्म हैं। जिस आचरणकी आर्यजन (श्रेष्ठ पुरुष) श्लाघा करते हैं, वह धर्म है और जिसकी गर्हा करते हैं, वह अधर्म है।

प्रामाणिक और परीक्षक इस प्रकार अरण्यसिंह-न्यायसे प्रमाणान्तरसे अवेद्य धर्मके स्वरूपका परिचायक होनेसे ही वेदके प्रामाण्य और गौरवका बखान करते हैं। पुरुषबुद्धिके दोषलेशसे असंस्पृष्ट सर्वज्ञकल्प वेदोंद्वारा अभिगम्य होनेके कारण ही धर्ममें लोग अटूट और अटल गौरव रखते हैं। इस प्रकारके अतिगम्भीर वेदोंसे वेद्य धर्मस्वरूपको ठीक-ठीक जाननेके लिये असमर्थ मन्दबुद्धियोंपर वे भी धर्मस्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर उसका आचरण कर विशिष्ट सुख और दुःखनिवृत्ति प्राप्त कर परमानन्दभागी हों, यों अनुग्रह करनेके लिये लोकमें वेद प्रवृत्त हैं। वेद ही क्यों, वेदानुगृहीत सब वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द तथा पुराण, न्याय और मीमांसारूप सब उपाङ्ग, बहुत क्या कहें; सारा-का-सारा संस्कृत वाङ्मय भगवान् वेदपुरुषका ज्ञान कराकर वेदार्थको विशद करनेके लिये वेदप्रतिपाद्य धर्मस्वरूपकी सरल रीतिसे व्याख्या करनेके लिये आख्यान-उपाख्यान आदि कहते हुए तत्तत्-धर्मोंमें उन-उन अधिकारी पुरुषोंको प्रवृत्ति करानेके लिये ही लोकमें प्रवृत्त है।

केवल संस्कृत वाङ्मयके ही नहीं, भारत देशके सभी भाषामय ग्रन्थ विविध प्रकारसे उसी (पूर्वोक्त) अर्थका विवरण प्रस्तुत करते हैं।

इसलिये हमारा सारा-का-सारा शब्द-संदर्भ साक्षात् या परम्परासे भगवान् वेदपुरुषका अवयव ही है, ऐसा वस्तुतः विचार करनेपर सर्वव्यापी सर्वशक्तिशाली वेदपुरुषमें अन्यून (समान) बुद्धि और अन्यून गौरव रखनेवाले हम लोग—हमारी यह मति अनुचितकारिणी नहीं है, यह हृदयसे स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार धर्म ही सब प्राणियोंकी साक्षात् अथवा परम्परासे सम्पूर्ण पुरुषार्थ अधिकारानुसार प्रदान करता है। उक्त धर्मका वेदसे ही ठीक-ठीक परिज्ञान किया जा सकता है। वेद और वेदका अनुसरण करनेवाले स्मृति आदि प्रमाणोंसे ज्ञात नियमतः तथा विधि-विधानसे अनुष्ठित धर्म ही अर्थ और कामरूप पुरुषार्थोंके प्रदानपूर्वक मोक्षरूप निःश्रेयस तक प्रदान करता है।

वेद यदि विधिपूर्वक गुरुमुखसे पढ़ा जाय तभी वह अपने अर्थको अवबोधित कराता हुआ अभिलषित फल प्रदान करता है। जो नियमोंका पालन नहीं

करता, उसके द्वारा सविधि न पढ़ा गया वेद नियमपूर्वक अध्ययनके बिना (यहाँ अध्ययन गुरुमुखसे उच्चारणके अनन्तर उच्चारण अभिप्रेत है।) पुस्तक देखकर कण्ठस्थ किया गया, खूब अभ्यस्त भी, कर्ममें विधिपूर्वक प्रयुक्त भी कुछ फल पैदा नहीं करता। इसलिये जो लोग वेदाध्ययनके अङ्गभूत स्मृति आदि ग्रन्थोंमें प्रतिपादित नियमोंकी कोई परवाह न कर मनमाने ढंगसे रघुवंशादि काव्योंके तुल्य वेदको कण्ठस्थ कर उसी शब्दराशिको कर्मोंमें प्रयुक्त करते हैं, कर्ममें प्रयुक्त उस निस्सार शब्दराशिसे अथवा उसके अनुसार किये गये कर्मका कोई फल न देख; वे वैदिक कर्मोंकी निष्फलता और वैदिक मन्त्रोंकी निस्सारताका ढिंढोरा पीटते फिरते हैं एवं श्रद्धालुजनोंको मोहमें डालते हैं। **'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'**—इस न्यायके अनुसार यह सब उनके स्वकृत दोषका अज्ञान ही है।

वैदिक मार्गकी यह दुर्दशा इधर प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हो रही है। वेदमार्गनिरत श्रद्धालु धार्मिक जनोंको इसे रोकना चाहिये।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि नियमानुसार अधीत वेदसे ही अर्थज्ञान करके कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। नियमपूर्वक गुरुमुखसे अधीत सारगर्भित मन्त्रोंका ही कर्मोंमें प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार किये गये कर्म ही अपना-अपना फल देनेमें समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं।

जैसे अंकुर उत्पन्न करनेमें समर्थ सारी शक्ति अपनेमें रखते हुए भी धान, गेहूँ, जौ आदिके बीज उचित देश, काल और संस्कारके अभावमें अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते, वैसे ही यज्ञ आदि कर्म भी सम्पूर्ण फल-जननशक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी यदि ठीक-ठीक अनुष्ठित न किया जाय तो कदापि फलोत्पादक नहीं होता। इसलिये धर्मानुष्ठानसे फल चाहनेवाले पुरुषोंको पहले कर्मवैगुण्यसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसलिये शबरस्वामीने कहा है— **'स यथावदनुष्ठितः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति संयुनक्ति'** अर्थात् धर्म यदि यथाविधि अनुष्ठित हो तो वह अनुष्ठाता पुरुषके लिये कल्याणप्रद होता है। अतः धर्म पुरुषके अभिलषित सर्वविध कल्याणोंका प्रापक है और वह एकमात्र वेदसे ज्ञेय है। वेद भी विधि, अर्थवाद, मन्त्र, निषेध और अभिधेय-रूपसे विविध प्रकारका है। अपने सभी विध्यादि प्रकारों (भागों)-से वह धर्मका ही प्रतिपादन करता है।

विधि—यह धर्मस्वरूप, धर्मके अङ्ग, द्रव्य, देवता अथवा अन्यका विधान करती है। **अर्थवाद**—यह पुरुषोंकी रुचि-उत्पादनद्वारा धर्ममें उन्हें प्रवृत्त करनेके लिये धर्मकी स्तुति करता है। **मन्त्र**—यह अनुष्ठानके समय उच्चरित होकर उसीका (धर्मका ही) स्मरण कराता है। **निषेध**—यह अधर्मके स्वरूपका ज्ञान कराता हुआ अधर्मसे भिन्न धर्म है, इसीका प्रतिपादन करता है। **अभिधेय**—यह कर्मकी संज्ञा है। यह अधर्मसे धर्मको पृथक् करता हुआ संकल्प, व्यवहार आदिमें सहायता पहुँचाता है।

इसीलिये सूत्रकार भगवान् जैमिनिसे विविध स्थलोंमें कहा है— **'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्'** (जै० सू० १।१।२५), **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।'** (जै० सू० १।२।१), **'उक्तं समाम्नायैतदर्थं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात्'** (जै० सू० १।४।१)।

इस प्रकार वेदका कोई एक अंश भी ऐसा नहीं है, जो धर्मका प्रतिपादन न करता हो। उसके द्वारा पुरुषको श्रेय:प्राप्ति होती है, अतः उसका कहींपर त्याग नहीं किया गया है, उसीसे मनुष्य अपनेको कृतार्थ मानता है। अतएव भगवान् मनुने यह स्पष्टरूपसे कहा है— **'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः'** (अर्थात् वेद ही द्विजातियोंके लिये परम निःश्रेयसकर है)।

इसलिये सब प्रकारसे कल्याणकारी वेदका विधिपूर्वक अध्ययन कर और नियमानुसार उसका अर्थ जानकर विधि-विधानके साथ अपने अधिकारानुरूप तत्तत्-विविध कर्मोंका अनुष्ठान कर लोग अपनी अभिलषित सुख-प्राप्ति और दु:ख-निवृत्तिका सम्पादन करेंगे, ऐसी आशा है। ये सारी शुभाशंसाएँ अपने मनमें रखकर ही हमारे प्राचीन आचार्य कहते हैं— **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'**